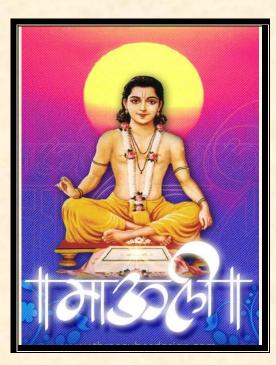
॥ श्रीहरि ॥ ॥ श्री भावार्थदीपिका ॥ ॥ अध्याय दुसरा ॥

< (2) < (2) < (2) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3)



हेचि आम्हां करणे काम । बीज वाढवावे नाम ॥

संतचरणरज बाळकृष्ण प्रकाश कदम जय हरि सांस्कृतीक प्रतिष्ठान, सोलापूर

॥ अध्याय दुसरा ॥ ॥ साख्ययोगः ॥

संजय उवाच । तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् । विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १॥

मग संजयो म्हणे रायातें । आईके तो पार्थु तेथें ।
शोकाकुल रुदनातें । किरतु असे ॥ १ ॥
तें कुळ देखोनि समस्त । स्नेह उपनलें अद्भुत ।
तेणें द्रवलें असे चित्त । कवणेपरी ॥ २ ॥
जैसें लवण जळें झळंबलें । ना तरी अभ्र वातें हाले ।
तैसें सधीर परी विरमलें । हृदय तयाचें ॥ ३ ॥
म्हणौनि कृपा आकळिला । दिसतसे अति कोमाइला ।
जैसा कर्दमीं रुपला । राजहंस ॥ ४ ॥
तयापरी तो पांडुकुमरु । महामोहें अति जर्जरु ।
देखोनि श्रीशारङ्गधरु । काय बोले ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच । कुतस्त्वा कश्मलिमदं विषमे समुपस्थितम् । अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २॥

म्हणे अर्जुना आदि पाहीं । हें उचित काय इये ठायीं । तूं कवण हें कायी । करीत आहासी ॥ ६ ॥ तुज सांगे काय जाहलें । कवण उणें आलें ।

करितां काय ठेलें । खेदु कायिसा ॥ ७ ॥ तूं अनुचिता चित्त नेदिसी । धीरु कहीं न संडिसी । तुझेनि नामें अपयशी । दिशा लंघिजे ॥ ८ ॥ त्रं शूरवृत्तीचा ठावो । क्षत्रियांमाजीं रावो । तुझिया लाठेपणाचा आवो । तिहीं लोकीं ॥ ९ ॥ तुवां संग्रामीं हरु जिंकिला । निवातकवचांचा ठावो फेडिला । पवाडा तुवां केला । गंधर्वांसीं ॥ १० ॥ पाहतां तुझेनि पाडें । दिसे त्रैलोक्यही थोकडें । ऐसें पुरुषत्व चोखडें । पार्था तुझें ॥ ११ ॥ तो तूं कीं आजि एथें। सांडुनियां वीरवृत्तीतें। अधोमुख रुदनातें । करितु आहासी ॥ १२ ॥ विचारी तूं अर्जुनु । कीं कारुण्यें किजसी दीनु । सांग पां अंधकारें भानु । ग्रासिला आथी ॥ १३ ॥ ना तरी पवनु मेघासी बिहे । कीं अमृतासी मरण आहे पाहें पां इंधनचि गिळोनि जाये । पावकातें ॥ १४ ॥ कीं लवणेंचि जळ विरे । संसर्गें काळकूट मरे । सांग पां महाफणी दर्दुरें । गिळिजे कायी ॥ १५ ॥ सिंहासी झोंबे कोल्हा । ऐसा अपाडु आथि कें जाहला परी तो त्वां साच केला । आजि एथ ॥ १६ ॥ म्हणौनि अझुनी अर्जुना । झणें चित्त देसी या हीना । वेगीं धीर करूनियां मना । सावधु होई ॥ १७ ॥ सांडीं हें मूर्खपण । उठीं घे धनुष्यबाण । संग्रामीं हें कवण । कारुण्य तुझें ॥ १८ ॥

हां गा तूं जाणता । तरी न विचारिसी कां आतां । सांगें झुंजावेळे सदयता । उचित कायी ॥ १९ ॥ हे असतीये कीर्तीसी नाशु । आणि पारित्रकासी अपभ्रंशु । म्हणे जगन्निवासु । अर्जुनातें ॥ २० ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते । क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३॥

म्हणौनि शोकु न करी । तूं पुरता धीरु धरीं । हें शोच्यता अव्हेरीं । पंडुकुमरा ॥ २१ ॥ तुज नव्हे हें उचित । येणें नासेल जोडलें बहुत । तूं अझुनी वरी हित । विचारीं पां ॥ २२ ॥ येणें संग्रामाचेनि अवसरें । एथ कृपाळूपण नुपकरे । हे आतांचि काय सोयरे । जाहले तुज ॥ २३ ॥ तूं आधींचि काय नेणसी । कीं हे गोत्रज नोळखसी वायांचि काय करिसी । अतिशो आतां ॥ २४ ॥ आजिचें हें झुंज । काय जन्मा नवल तुज । हें परस्परें तुम्हां व्याज । सदांचि आथी ॥ २५ ॥ तरी आतां काय जाहलें। कायि स्नेह उपनलें। हें नेणिजे परी कुडें केलें । अर्जुना तुवां ॥ २६ ॥ मोहो धरिलीया ऐसें होईल । जे असती प्रतिष्ठा जाईल । आणि परलोकही अंतरेल । ऐहिकेंसी ॥ २७ ॥ हृदयाचें ढिलेपण । एथ निकयासी नव्हे कारण । हें संग्रामीं पतन जाण । क्षत्रियांसीं ॥ २८ ॥

ऐसेनि तो कृपावंतु । नानापरी असे शिकवितु । हें ऐकोनि पंडुसुतु । काय बोले ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच । कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४॥

देवा हें येतुलेवरी । बोलावें नलगे अवधारीं । आधीं तूंचि विचारीं । संग्रामु हा ॥ ३० ॥ हें झुंज नव्हे प्रमादु । एथ प्रवर्तिलया दिसतसे बाधु । हा उघड लिंगभेदु । वोढवला आम्हां ॥ ३१ ॥ देखें मातापितरें अचिजती । सर्वस्वें तोषु पावविजती । तिये पाठीं केवीं विधजती । आपुलिया हातीं ॥ ३२ ॥ देवा संतवृंद नमस्कारिजे । कां घडे तरी पूजिजे । हें वांचूनि केवीं निंदिजे । स्वयें वाचा ॥ ३३ ॥ तैसे गोत्रगुरु आमुचे । हे पूजनीय आम्हां नियमाचे । मज बहुत भीष्मद्रोणांचें । वर्ततसे ॥ ३४ ॥ जयांलागीं मनें विरूं । आम्ही स्वप्नींही न शकों धरूं । तयां प्रत्यक्ष केवीं करूं । घातु देवा ॥ ३५ ॥ वरी जळो हें जियालें । एथ आघवेयांसि हेंचि काय जाहले । जे यांच्या वधीं अभ्यासिले । मिरविजे आम्हीं ॥ ३६ ॥ मी पार्थु द्रोणाचा केला । येणें धनुर्वेदु मज दिधला । तेणें उपकारें काय आभारेला । वधी तयातें ॥ ३७ ॥ जेथींचिया कृपा लाहिजे वरु । तेथेंचि मनें व्यभिचारु ।

तरी काय मी भस्मासुरु । अर्जुन म्हणे ॥ ३८ ॥

गुरुनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके । हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगानुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५॥

देवा समुद्र गंभीर आइकिजे । वरि तोहि आहाच देखिजे । परी क्षोभु मनीं नेणिजे । द्रोणाचिये ॥ ३९ ॥ हें अपार जें गगन । वरी तयाही होईल मान । परि अगाध भलें गहन । हृदय याचें ॥ ४० ॥ वरी अमृतही विटे । कीं काळवशें वज्रही फुटे । परी मनोधर्मु न लोटे । विकरविलाही ॥ ४१ ॥ स्नेहालागीं माये । म्हणिपे तें कीरु होये । परी कृपा ते मूर्त आहे । द्रोणीं इये ॥ ४२ ॥ हा कारुण्याची आदि । सकल गुणांचा निधि । विद्यासिधु निरवधि । अर्जुन म्हणे ॥ ४३ ॥ हा येणें मानें महंतु । वरी आम्हांलागीं कृपावंतु । आतां सांग पां येथ घातु । चिंतूं येईल ॥ ४४ ॥ ऐसे हे रणीं वधावे । मग आपण राज्यसुख भोगावें । तें मना न ये आघवें । जीवितेसीं ॥ ४५ ॥ हें येणें मानें दुर्धर । जे याहीहुनी भोग सधर । ते असतु येथवर । भिक्षा मागतां भली ॥ ४६ ॥ ना तरी देशत्यागें जाइजे । कां गिरिकंदर सेविजे । परी शस्त्र आतां न धरिजे । इयांवरी ॥ ४७ ॥ देवा नवनिशतीं शरीं । वावरोनी यांच्या जिव्हारीं ।

भोग गिंवसावे रुधिरीं । बुडाले जे ॥ ४८ ॥ ते काढूनि काय किजती । लिप्त केवी सेविजती । मज नये हे उपपत्ती । याचिलागीं ॥ ४९ ॥ ऐसें अर्जुन तिये अवसरी । म्हणे श्रीकृष्णा अवधारीं । परी तें मना नयेचि मुरारी । आइकोनियां ॥ ५० ॥ हें जाणोनि पार्थु बिहाला । मग पुनरिप बोलों लागला । म्हणे देवो कां चित्त या बोला । देतीचिना ॥ ५१ ॥

न चैतद्विद्यः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः । यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६॥ VA () VA

ये-हवीं माझ्या चित्तीं जें होतें । तें मी विचारूनि बोलिलों एथें । परी निकें काय यापरौतें । तें तुम्हीं जाणा ॥ ५२ ॥ पैं वीरु जयांसी ऐकिजे । आणि या बोलींचि प्राणु सांडिजे । ते एथ संग्रामव्याजें । उभे आहाती ॥ ५३ ॥ आतां ऐसियांतें वधावें । कीं अव्हेरूनियां निघावें । या दोहींमाजीं बरवें । तें नेणों आम्ही ॥ ५४ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७॥

> आम्हां काय उचित । तें पाहतां न स्फुरे एथ । जें मोहें येणें चित्त । व्याकुळ माझें ॥ ५५ ॥ तिमिरावरुद्ध जैसें । दृष्टीचें तेज भ्रंशे ।

मग पासींच असतां न दिसे । वस्तुजात ॥ ५६ ॥ देवा तैसें मज जाहलें । जें मन हें भ्रांती ग्रासिलें । आतां काय हित आपुलें । तेंही नेणें ॥ ५७ ॥ तरी श्रीकृष्णा तुवां जाणावें । निकें तें आम्हां सांगावें । जे सखा सर्वस्व आघवें । आम्हांसि तूं ॥ ५८ ॥ तूं गुरु बंधु पिता । तूं आमुची इष्ट देवता । तूंचि सदा रक्षिता । आपदीं आमुतें ॥ ५९ ॥ जैसा शिष्यांतें गुरु । सर्वथा नेणें अव्हेरु । कीं सरितांतें सागरु । त्यजीं केवी ॥ ६० ॥ नातरी अपत्यांतें माये । सांडूनि जरी जाये । तरी तें कैसेंनि जिये । ऐकें कृष्णा ॥ ६१ ॥ तैसा सर्वांपरी आम्हांसी । देवा तूंचि एक आहासी । आणि बोलिलें जरी न मानिसी । मागील माझें ॥ ६२ ॥ तरी उचित काय आम्हां । जें व्यभिचरेना धर्मा । तें झडकरी पुरुषोत्तमा । सांगें आतां ॥ ६३ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् । अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामिप चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

हं सकळ कुळ देखोनि । जो शोकु उपनलासे मनीं । तो तुझिया वाक्यावांचुनी । न जाय आणिकें ॥ ६४ ॥ एथ पृथ्वीतळ आपु होईल । हं महेंद्रपदही पाविजेल । परी मोह हा न फिटेल । मानसींचा ॥ ६५ ॥ जैसीं बीजें सर्वथा आहाळलीं । तीं सुक्षेत्रीं ज-हीं पेरिलीं ।

तरी न विरूढती सिंचिलीं । आवडे तैसीं ॥ ६६ ॥ ना तरी आयुष्य पुरलें आहे । तरी औषधें कांहीं नोहे । एथ एकचि उपेगा जाये । परमामृत ॥ ६७ ॥ तैसे राज्यभोगसमृद्धि । उज्जीवन नोहे जीव बुद्धि । एथ जिव्हाळा कृपानिधि । कारुण्य तुझें ॥ ६८ ॥ ऐसें अर्जुन तेथ बोलिला । जंव क्षण एक भ्रांति सांडिला । मग पुनरिप व्यापिला । उमी तेणें ॥ ६९ ॥ कीं मज पाहतां उमीं नोहे । हें अनारिसें गमत आहे । तो ग्रासिला महामोहें । काळसर्पें ॥ ७० ॥ सवर्म हृदयकल्हारीं । तेथ कारुण्यवेळेच्या भरीं । लागला म्हणोनि लहरी । भांजेचिना ॥ ७१ ॥ हें जाणोनि ऐसी प्रौढी । जो दृष्टीसवेंचि विष फेडी । तो धांवया श्रीहरी गारुडी । पातला कीं ॥ ७२ ॥ तैसिया पंडुकुमरा व्याकुळा । मिरवतसे श्रीकृष्ण जवळा । तो कृपावशें अवलीळा । रक्षील आतां ॥ ७३ ॥ म्हणोनि तो पार्थु । मोहफणिग्रस्तु । म्यां म्हणितला हा हेतु । जाणोनियां ॥ ७४ ॥ मग देखा तेथ फाल्गुनु । घेतला असे भ्रांती कवळूनु । जैसा घनपटळीं भानु । आच्छादिजे ॥ ७५ ॥ तयापरी तो धनुर्धरः । जाहलासे दुःखें जर्जरः । जैसा ग्रीष्मकाळीं गिरिवरु । वणवला कां ॥ ७६ ॥ म्हणोनि सहजें सुनीळु । कृपामृतें सजळु । तो वोळलासे श्रीगोपाळु । महामेघु ॥ ७७ ॥

तथ सुदशनांची द्युति । तेचि विद्युल्लता झळकती । गंभीर वाचा ते आयती । गर्जनेची ॥ ७८ ॥ आतां तो उदार कैसा वर्षेल । तेणें अर्जुनाचळु निवेल । मग नवी विरूढी फुटेल । उन्मेषाची ॥ ७९ ॥ ते कथा आइका । मनाचिया आराणुका । ज्ञानदेवो म्हणे देखा । निवृत्तिदासु ॥ ८० ॥

संजय उवाच । एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप । न योत्स्य इति गोविंमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९॥

ऐसें संजयो असे सांगतु । म्हणे राया तो पार्थु ।
पुनरिप शोकाकुळितु । काय बोले ॥ ८१ ॥
आइके सखेदु बोले श्रीकृष्णातें । आतां नाळवावें तुम्हीं मातें
। मी सर्वथा न झुंजें एथें । भरंवसेनी ॥ ८२ ॥
ऐसें येकि हेळां बोलिला । मग मौन धरूनि ठेला ।
तेथ श्रीकृष्णा विस्मो पातला । देखोनि तयातें ॥ ८३ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत । सेनयोरूभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १०॥

मग आपुलां चित्तीं म्हणे । एथ हें कायी आदिरलें येणें । अर्जुन सर्वथा कांहीं नेणें । काय कीजे ॥ ८४ ॥ हा उमजे आतां कवणेपरी । कैसेनि धीरू स्वीकारी । जैसा ग्रहातें पंचाक्षरी । अनुमानी कां ॥ ८५ ॥ ना तरी असाध्य देखोनि व्याधि । अमृतासम दिव्य औषधि ।
वैद्य सूचि निरवधि । निदानीची ॥ ८६ ॥
तैसे विवरीतु असे श्रीअनंतु । तया दोन्ही सैन्याआंतु ।
जयापरी पार्थु । भ्रांती सांडी ॥ ८७ ॥
तें कारण मनीं धिरलें । मग सरोष बोलों आदिरलें ।
जैसे मातेच्या कोपीं थोकुलें । स्नेह आथी ॥ ८८ ॥
कीं औषधाचिया कडुवटपणीं । जैसी अमृताची पुरवणीं ।
ते आहाच न दिसे परी गुणीं । प्रकट होय ॥ ८९ ॥
तैसीं विरवरी पाहतां उदासें । आंत तरी अतिसुरसें ।
तियें वाक्यें हृषीकेशें । बोलों आदिरलीं ॥ ९० ॥

श्रीभगवानुवाच । अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे । गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११॥

मग अर्जुनातें म्हणितलें । आम्हीं आजि हें नवल देखिलें । जें तुवां एथ आदिरलें । माझारींचि ॥ ९१ ॥ तूं जाणता तरी म्हणिवसी । परी नेणिवेतें न संडिसी । आणि शिकवूं म्हणों तरी बोलसी । बहुसाल नीति ॥ ९२ ॥ जात्यंधा लागे पिसें । मग तें सैरा धांवे जैसें । तुझे शहाणपण तैसें । दिसतसे ॥ ९३ ॥ तूं आपणपें तरी नेणसी । परी या कौरवांतें शोचूं पहासी । हा बहु विस्मय आम्हांसी । पुढतपुढती ॥ ९४ ॥ तरी सांग पां अर्जुना । तुजपासूनि स्थिति या त्रिभुवना ।

हे अनादि विश्वरचना । तें लटके कायी ॥ ९५ ॥ एथ समर्थु एक आथी । तयापासूनि भूतें होती । तरी हें वायांचि काय बोलती । जगामाजीं ॥ ९६ ॥ हो कां सांप्रत ऐसें जाहलें। जे हे जन्ममृत्यु तुवां सृजिलें। आणि नाशु पावे नाशिलें । तुझेनि कायी ॥ ९७ ॥ तूं भ्रमलेपणें अहंकृती । यांसि घातु न धरिसी चित्तीं । तरी सांगें कायि हे होती । चिरंतन ॥ ९८ ॥ कीं तूं एक विधता । आणि सकळ लोकु हा मरता । ऐसी भ्रांति झणें चित्ता । येवों देसी ॥ ९९ ॥ अनादिसिद्ध हें आघवें । होत जात स्वभावें । तरी तुवां कां शोचावें । सांगें मज ॥ १०० ॥ परी मूर्खपणें नेणसी । न चिंतावें तें चिंतीसी । आणि तूंचि नीति सांगसी । आम्हांप्रति ॥ १०१ ॥ देखें विवेकी जे होती । ते दोहीतेंहीं न शोचिती । जे होय जाय हे भ्रांती । म्हणौनियां ॥ १०२ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः । न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२॥

अर्जुना सांगेन आइक । एथ आम्ही तुम्ही देख । आणि हे भूपित अशेख । आदिकरुनी ॥ १०३ ॥ नित्यता ऐसेचि असोनी । ना तरी निश्चित क्षया जाउनी । हे भ्रांति वेगळी करुनी । दोन्ही नाहीं ॥ १०४ ॥ हे उपजे आणि नाशे । तें मायावशें दिसे । ए-हवीं तत्त्वता वस्तु जें असे । तें अविनाशिच ॥ १०५ ॥ जैसें पवनें तोय हालिवलें । आणि तरंगाकार जाहलें । तरी कवण कें जन्मलें । म्हणों ये तेथ ॥ १०६ ॥ तेंचि वायूचें स्फुरण ठेलें । आणि उदक सहज सपाट जाहलें । तरी आतां काय निमालें । विचारीं पां ॥ १०७ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा । तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३॥

आइकें शरीर तरी एक । परी वयसा भेद अनेक ।
हें प्रत्यक्षचि देख । प्रमाण तूं ॥ १०८ ॥
एथ कौमारत्व दिसे । मग तारुण्यीं तें भ्रंशे ।
परी देहचि हा न नाशे । एकेकासवें ॥ १०९ ॥
तैसीं चैतन्याच्या ठायीं । इयें शरीरांतरें होती जाती पाहीं ।
ऐसें जाणे तया नाहीं । व्यामोहदु:ख ॥ ११० ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा । आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४॥

एथ कौमारत्व दिसे । मग तारुण्यीं तें भ्रंशे ।
परी देहचि हा न नाशे । एकेकासवें ॥ १०९ ॥
तैसीं चैतन्याच्या ठायीं । इयें शरीरांतरें होती जाती पाहीं ।
ऐसें जाणे तया नाहीं । व्यामोहदुःख ॥ ११० ॥
एथ नेणावया हेंचि कारण । जें इंद्रियां आधीनपण ।
तिहीं आकळिजे अंतःकरण । म्हणऊनि भ्रमे ॥ १११ ॥

इंद्रियें विषय सेविती । तेथ हर्ष शोक उपजती । ते अंतर आप्लविती । संगें येणें ॥ ११२ ॥ जयां विषयांच्या ठायीं । एकनिष्ठता कहीं नाहीं । तेथ दु:ख आणि कांहीं । सुखही दिसे ॥ ११३ ॥ देखें शब्दाचि व्याप्ति । निंदा आणि स्तृति । तेथ द्वेषाद्वेष उपजती । श्रवणद्वारें ॥ ११४ ॥ मृदु आणि कठीण । हे स्पर्शाचे दोन्ही गुण । जे वपूचेनि संगें कारण । संतोषखेदां ॥ ११५ ॥ भ्यासुर आणि सुरेख । हें रूपाचें स्वरूप देख । जें उपजवी सुखदु:ख । नेत्रद्वारें ॥ ११६ ॥ स्गंधु आणि दुर्गंधु । हा परिमळाचा भेदु । जो घ्राणसंगें विषादु । तोषु देता ॥ ११७ ॥ तैसाचि द्विविध रसु । उपजवी प्रीति त्रासु । म्हणौनि हा अपभ्रंशु । विषयसंगु ॥ ११८ ॥ देखें इंद्रियां आधीन होईजे । तैं शीतोष्णांतें पाविजे । आणि सुखदुःखीं आकळिजे । आपणपें ॥ ११९ ॥ या विषयांवांचूनि कांहीं । आणीक सर्वथा रम्य नाहीं । ऐसा स्वभावोचि पाहीं । इंद्रियांचा ॥ १२० ॥ हे विषय तरी कैसे । रोहिणीचें जळ जैसें । कां स्वप्नींचा आभासे । भद्रजाति ॥ १२१ ॥ देखें अनित्य तियापरी । म्हणौनि तूं अव्हेरीं । हा सर्वथा संगु न धरीं । धनुर्धरा ॥ १२२ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ । समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५॥

हे विषय जयातें नाकळिती । तया सुखदुःखें दोनी न पवती । आणि गर्भवासुसंगती । नाहीं तया ॥ १२३ ॥ तो नित्यरूप पार्था । वोळखावा सर्वथा । जो या इंद्रियार्था । नागवेचि ॥ १२४ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरिप दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदिशिभिः ॥ १६॥

आतां अर्जुना कांहीं एक । सांगेन मी आईक ।
जे विचारपर लोक । वोळखिती ॥ १२५ ॥
या उपाधिमाजीं गुप्त । चैतन्य असे सर्वगत ।
तें तत्त्वज्ञ संत । स्वीकारिती ॥ १२६ ॥
सिललीं पय जैसें । एक होऊनि मीनलें असे ।
परी निवडूनि राजहंसें । वेगळें कीजे ॥ १२७ ॥
कीं अग्निमुखें किडाळ । तोडोनियां चोखाळ ।
निवडिती केवळ । बुद्धिमंत ॥ १२८ ॥
ना तरी जाणिवेच्या आयणी । करितां दिधकडसणी ।
मग नवनीत निर्वाणीं । दिसे जैसें ॥ १२९ ॥
कीं भूस बीज एकवट । उपणितां राहे घनवट ।
तेथ उडे तें फलकट । जाणों आलें ॥ १३० ॥
तैसें विचारितां निरसलें । तें प्रपंचु सहजें सांडवलें ।

मग तत्त्वता तत्त्व उरलें । ज्ञानियांसि ॥ १३१ ॥ म्हणौनि अनित्याच्या ठायीं । तयां आस्तिक्यबुद्धि नाहीं । निष्कर्षु दोहींही । देखिला असे ॥ १३२ ॥

><\$}><\$}><

अविनाशि तु तिद्विद्धि येन सर्विमिदं ततम् । विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७॥

देखें सारासार विचारितां । भ्रांति ते पाहीं असारता । तरी सार तें स्वभावता । नित्य जाणें ॥ १३३ ॥ हा लोकत्रयाकारु । तो जयाचा विस्तारु । तथ नाम वर्ण आकारु । चिन्ह नाहीं ॥ १३४ ॥ जो सर्वदा सर्वगतु । जन्मक्षयातीतु । तया केलियाहि घातु । कदा नोहे ॥ १३५ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः । अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८॥

आणि शरीरजात आघवें । हें नाशिवंत स्वभावें । म्हणौनि तुवां झुंजावें । पंडुकुमरा ॥ १३६ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९॥

तूं धरूनि देहाभिमानातें । दिठी सूनि शरीरातें । मी मारिता हे मरते । म्हणतु आहासी ॥ १३७ ॥

तरी अर्जुना तूं हें नेणसी । जरी तत्त्वता विचारिसी । तरी विधता तूं नव्हेसी । हे वध्य नव्हती ॥ १३८ ॥

BACBACBACBACBACBACBACBACBACBACBACB

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् । कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१॥

जैसें स्वप्नामाजीं देखिजे । तें स्वप्नींचि साच आपजे ।

मग चेऊनियां पाहिजे । तंव कांहीं नाहीं ॥ १३९ ॥

तैसी हे जाण माया । तूं भ्रमतु आहासी वायां ।

शस्त्रें हाणितिलया छाया । जैसी आंगीं न रुपे ॥ १४० ॥

कां पूर्ण कुंभ उलंडला । तेथ बिंबाकारु दिसे भ्रंशला ।

परी भानु नाहीं नासला । तयासवें ॥ १४१ ॥

ना तरी मठीं आकाश जैसें । मठाकृती अवतरलें असे ।

तो भंगिलया आपैसें । स्वरूपिच ॥ १४२ ॥

तैसें शरीराच्या लोपीं । सर्वथा नाशु नाहीं स्वरूपीं ।

म्हणौनि तू हें नारोपी । भ्रांति बापा ॥ १४३ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसें जीर्ण वस्त्र सांडिजे । मग नूतन वेढिजे । तैसें देहांतरातें स्वीकारिजे । चैतन्यनाथें ॥ १४४ ॥ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहित पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयित मारुतः ॥ २३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४॥

हा अनादि नित्यसिद्धु । निरुपाधि विशुद्धु । म्हणौनि शस्त्रादिकीं छेदु । न घडे यया ॥ १४५ ॥ हा प्रळयोदकें नाप्लवे । अग्निदाहो न संभवे । एथ महाशोषु न प्रभवे । मारुताचा ॥ १४६ ॥ अर्जुना हा नित्यु । अचळु हा शाश्वतु । सर्वत्र सदोदितु । परिपूर्णु हा ॥१४७ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५॥

हा तर्काचिये दिठी । गोचर नोहे किरीटी । ध्यान याचिये भेटी । उत्कंठा वाहे ॥ १४८ ॥ हा सदा दुर्लभु मना । आपु नोहे साधना । निःसीमु हा अर्जुना । पुरुषोत्तमु ॥ १४९ ॥ हा गुणत्रयरहितु । अनादि अविकृतु । व्यक्तीसी अतीतु । सर्वरूप ॥ १५० ॥ अर्जुना ऐसा हा जाणावा । सकळात्मकु देखावा । मग सहजें शोकु आघवा । हरेल तुझा ॥ १५१ ॥ अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् । तथापि त्वं महाबाहो नैवं शौचितुमर्हसि ॥ २६॥

अथवा ऐसा नेणसी । तूं अंतवंतचि मानिसी । तर्ही शोचूं न पवसी । पंडुकुमरा ॥ १५२ ॥ जो आदि स्थिति अंतु । हा निरंतर असे नित्यु । जैसा प्रवाहो अनुस्यूतु । गंगाजळाचा ॥ १५३ ॥ तें आदि नाहीं खंडलें । समुद्रीं तरी असे मीनलें । आणि जातचि मध्यें उरलें । दिसे जैसें ॥ १५४ ॥ इयें तिन्ही तयापरी । सरसींच सदा अवधारीं । भूतांसी कवणीं अवसरीं । ठाकती ना ॥ १५५ ॥ म्हणौनि हें आघवें । एथ तुज नलगे शोचावें । जे स्थितीचि हे स्वभावें । अनादि ऐसी ॥ १५६ ॥ ना तरी हें अर्जुना । नयेचि तुझिया मना । जे देखोनि लोकु अधीना । जन्मक्षया ॥ १५७ ॥ तरी एथ कांहीं । तुज शोकासि कारण नाहीं । हे जन्ममृत्यु पाहीं । अपरिहर ॥ १५८ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७॥

उपजे तें नाशे । नाशलें पुनरिप दिसे । हें घटिकायंत्र जैसें । परिभ्रमे गा ॥ १५९ ॥ ना तरी उदो अस्तु आपैसें । अखंडित होत जात जैसें । हें जन्ममरण तैसें । अनिवार जगीं ॥ १६० ॥ महाप्रळयावसरें । हें त्रैलोक्यिह संहरे । म्हणौनि हा न परिहरे । आदि अंतु ॥ १६१ ॥ तूं जरी हें ऐसें मानिसी । तरी खेदु कां करिसी । काय जाणतुचि नेणसी । धनुर्धरा ॥ १६२ ॥ एथ आणीकही एक पार्था । तुज बहुतीं परी पहातां । दु:ख करावया सर्वथा । विषो नाहीं ॥ १६३ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८॥

जियें समस्तें इयें भूतें । जन्माआदि अमूर्तें ।
मग पातली व्यक्तीतें । जन्मलेया ॥ १६४ ॥
तियें क्षयासि जेथ जाती । तेथ निभ्रांत आनें नव्हती ।
देखें पूर्वस्थितीच येती । आपुलिये ॥ १६५ ॥
येर मध्यें जें प्रतिभासे । तें निद्रिता स्वप्न जैसें ।
तैसा आकारु हा मायवशें । तत्स्वरूपीं ॥ १६६ ॥
ना तरी पवनें स्पर्शिलें नीर । पिढयासे तरंगाकार ।
कां परापेक्षां अळंकार । व्यक्ती कनकीं ॥ १६७ ॥
तैसे सकळ हें मूर्त । जाण पां मायाकारित ।
जैसें आकाशीं बिंबत । अभ्रपटल ॥ १६८ ॥
तैसें आदीचि जें नाहीं । तयालागीं तूं रुदसी कायी ।
तूं अवीट तें पाहीं । चैतन्य एक ॥ १६९ ॥
जयाचि आर्तीचि भोगित । विषयीं त्यजिले संत ।

जयालागीं विरक्त । वनवासिये ॥ १७० ॥ दिठी सूनि जयातें । ब्रह्मचर्यादि व्रतें । मुनीश्वर तपातें । आचरताती ॥ १७१ ॥

आश्चर्यवत्पश्यित कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदित तथैव चान्यः । आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रुणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

एक अंतरीं निश्चळ । जें निहाळितां केवळ ।
विसरले सकळ । संसारजात ॥ १७२ ॥
एकां गुणानुवादु करितां । उपरित होऊन चित्ता ।
निरविध तल्लीनता । निरंतर ॥ १७३ ॥
एक ऐकतांचि निवाले । ते देहभावी सांडिले ।
एक अनुभवें पातले । तद्रूपता ॥ १७४ ॥
जैसे सरिता ओघ समस्त । समुद्रामाजीं मिळत ।
परी माघौते न समात । परतले नाहीं ॥ १७५ ॥
तैसिया योगीश्वरांचिया मती । मिळवणीसवें एकवटती ।
परी जे विचारूनि पुनरावृत्ति । भजतीचिना ॥ १७६ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत । तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३०॥

जें सर्वत्र सर्वही देहीं । जया करितांही घातु नाहीं । तें विश्वात्मक तूं पाहीं । चैतन्य एक ॥ १७७ ॥ जयाचेनि स्वभावें । हें होत जात आघवें । तरी सांग काय शोचावें । एथ तुवां ॥ १७८ ॥ ए-हवीं तरी पार्था । तुज कां नेणों न मनें चित्ता । परी किडाळ हें शोचितां । बहुतीं परीं ॥ १७९ ॥

स्वधर्ममिप चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हिस । धर्माद्धि युद्धाच्छेयोऽन्यत्क्षित्रियस्य न विद्यते ॥ ३१॥

तूं अझुनी कां न विचारिसी । काय हें चिंतितु आहासी । स्वधर्मु तो विसरलासी । तरावें जेणें ॥ १८० ॥ या कौरवां भलतें जाहलें । अथवा तुजिच कांहीं पातलें । कीं युगचि हें बुडालें। ज-हीं एथ ॥ १८१ ॥ तरी स्वधर्म एक आहे । तो सर्वथा त्याज्य नोहे । मग तरिजेल काय पाहें । कृपाळूपणें ॥ १८२ ॥ अर्जुना तुझें चित्त । ज-हीं जाहलें द्रवीभूत । तर्ही हें अनुचित । संग्रामसमयीं ॥ १८३ ॥ अगा गोक्षीर जरी जाहलें । तरी पथ्यासि नाहीं म्हणितलें । ऐसेनिहि विष होय सुदलें । नवज्वरीं देतां ॥ १८४ ॥ तैसें आनी आन करितां। नाशु होईल हिता। म्हणौनि तूं आतां । सावध होई ॥ १८५ ॥ वायांचि व्याकुळ कायी । आपुला निजधर्मु पाहीं । जो आचरितां बाधु नाहीं । कवणें काळीं ॥ १८६ ॥ जैसें मार्गेंचि चालतां । अपावो न पवे सर्वथा । कां दीपाधारें वर्ततां । नाडळिजे ॥ १८७ ॥ तयापरी पार्था । स्वधर्में राहाटतां । सकळ कामपूर्णता । सहजें होय ॥ १८८ ॥

म्हणौनि यालागीं पाहीं । तुम्हां क्षित्रियां आणीक कांहीं । संग्रामावांचूिन नाहीं । उचित जाणें ॥ १८९ ॥ निष्कपटा होआवें । उसिणा घाई झुंजावें । हें असो काय सांगावें । प्रत्यक्षावरी ॥ १९० ॥

यहच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् । सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२॥

अर्जुना झुंज देखें आतांचें । हें हो कां जें दैव तुमचें ।
कीं निधान सकळ धर्माचें । प्रगटलें असे ॥ १९१ ॥
हा संग्रामु काय म्हणिपे । कीं स्वर्गुचि येणें रूपें ।
मूर्त कां प्रतापें । उदो केला ॥ १९२ ॥
ना तरी गुणाचेनि पितकरें । आर्तीचेनि पिडभरें ।
हें कीर्तीचि स्वयंवरें । आली तुज ॥ १९३ ॥
क्षित्रियें बहुत पुण्य कीजे । तैं झुंज ऐसें लाहिजे ।
जैसें मार्गें जातां आडळिजे । चिंतामणि ॥ १९४ ॥
ना तरी जांभया पसरे मुख । तेथ अवचटें पडे पीयूख ।
तैसा संग्रामु हा देख । पातला असे ॥ १९५ ॥

अथ चेत्त्विममं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यिस । ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३॥

आतां हा ऐसा अव्हेरिजे । मग नाथिलें शोचूं बैसिजे । तरी आपण आहाणा होईजे । आपणपेयां ॥ १९६ ॥ पूर्वजांचें जोडलें । आपणचि होय धाडिलें । जरी आजि शस्त्र सांडिलें । रणीं इये ॥ १९७ ॥ असती कीर्ति जाईल । जगिच अभिशापु देईल । आणि गिंवसित पावतील । महादोष ॥ १९८ ॥ जैसीं भातारेंहीन विनता । उपहती पावे सर्वथा । तैशी दशा जीविता । स्वधर्मेंवीण ॥ १९९ ॥ ना तरी रणीं शव सांडिजे । तें चौमेरी गिधीं विदारिजे । तैसें स्वधर्महीना अभिभविजे । महादोषीं ॥ २०० ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथियष्यन्ति तेऽव्ययाम् । संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादितिरिच्यते ॥ ३४॥

म्हणौनि स्वधर्मु हा सांडसील । पापा वरपडा होसील । आणि अपेश तें न वचेल । कल्पांतवरी ॥ २०१ ॥ जाणतेनि तंवचि जियावें । जंव अपकीर्ति आंगा न पवे । आणि सांग पां केवीं निगावें । एथोनियां ॥ २०२ ॥ तू निर्मत्सर सदयता । येथूनि निघसील कीर माघौता । परी ते गती समस्तां । न मनेल ययां ॥ २०३ ॥ हे चहूंकडूनि वेढितील । बाणवरी घेतील । तेथ पार्था न सुटिजेल । कृपाळुपणें ॥ २०४ ॥ ऐसेनिहि प्राणसंकटें । जरी विपायें पां निघणें घटे । तरी तें जियालेंही वोखटें । मरणाहुनी ॥ २०५ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः । येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५॥ तूं आणिकही एक न विचारिसी । एथ संभ्रमें झुंजों आलासी । आणि सकणवपणें निघालासी । मागुता जरी ॥ २०६ ॥ तरी तुझें तें अर्जुना । या वैरियां दुर्जनां । कां प्रत्यया येईल मना । सांगैं मज ॥ २०७ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः । निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६॥

हे म्हणती गेला रे गेला । अर्जुन आम्हां बिहाला । हा सांगैं बोलु उरला । निका कायी ॥ २०८ ॥ लोक सायासें करूनि बहुतें। कां वेंचिती आपुलीं जीवितें। परी वाढिवती कीर्तीतें । धनुर्धरा ॥ २०९ ॥ ते तुज अनायासें । अनकळित जोडिली असे । हें अद्वितीय जैसें । गगन आहे ॥ २१० ॥ तैसी कीर्ती निःसीम । तुझ्या ठायीं निरुपम । तुझे गुण उत्तम । तिहीं लोकीं ॥ २११ ॥ दिगंतीचे भूपति । भाट होऊनि वाखाणिती । जे ऐकिलिया दचकती । कृतांतादिक ॥ २१२ ॥ ऐसी महिमा घनवट । गंगा जैसी चोखट । जया देखीं जगीं सुभट । वाट जाहली ॥ २१३ ॥ तें पौरुष तुझें अद्भुत । आइकोनियां हे समस्त । जाहले आथि विरक्त । जीवितेंसी ॥ २१४ ॥ जैसा सिंहाचिया हाकां । युगांतु होय मदमुखा । तैसा कौरवां अशेखां । धाकु तुझा ॥ २१५ ॥

जैसे पर्वत वज्रातें । ना तरी सर्प गरुडातें ।
तेसे अर्जुना हे तूतें । मानिती सदा ॥ २१६ ॥
तें अगाधपण जाईल । मग हीणावो अंगा येईल ।
जरी मागुता निघसील । न झुंजतुचि ॥ २१७ ॥
आणि हे पळतां पळों नेदिती । धरूनिं अवकळा करिती ।
न गणित कुटी बोलती । आइकतां तुज ॥ २१८ ॥
मग ते वेळीं हियें फुटावें । आतां लाठेपणें कां न झुजावें ।
हे जिंतलें तरी भोगावें । महीतळ ॥ २१९ ॥

हतो वा प्राप्स्यिस स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् । तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७॥

ना तरी रणीं एथ । झुंजतां वेंचलें जीवित ।
तरी स्वर्गसुख अनकळित । पावसील ॥ २२०॥
म्हणौनि ये गोठी । विचारु न करी किरीटी ।
आतां धनुष्य घेऊनि उठीं । झुंजैं वेगीं ॥ २१॥
ना तरी रणीं एथ । झुंजतां वेंचलें जीवित ।
तरी स्वर्गसुख अनकळित । पावसील ॥ २२० ॥
म्हणौनि ये गोठी । विचारु न करी किरीटी ।
आतां धनुष्य घेऊनि उठीं । झुंजैं वेगीं ॥ २२१ ॥
देखैं स्वधर्मु हा आचरतां । दोषु नाशे असता ।
तुज भ्रांति हे कवण चित्ता । पातकाची ॥ २२२ ॥
सांगैं प्लवेंचि काय बुडिजे । कां मार्गीं जातां आडळिजे ।
परी विपायें चालों नेणिजे । तरी तेंही घडे ॥ २२३ ॥

अमृतें तरीच मिरजे । जरी विखेंसि सेविजे । तैसा स्वधर्मीं दोषु पाविजे । हेतुकपणें ॥ २२४ ॥ म्हणौनियां पार्था । हेतू सांडोनि सर्वथा । तुज क्षात्रवृत्ति झुंजतां । पाप नाहीं ॥ २२५ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८॥
सुखीं संतोषां न यावें । दुःखीं विषादा न भजावें ।
आणि लाभालाभ न धरावे । मनामाजीं ॥ २२६ ॥
एथ विजयपण होईल । कीं सर्वथा देह जाईल ।
हें आधींचि कांही पुढील । चिंतावेना ॥ २२७ ॥
आपणयां उचिता । स्वधमें राहाटतां ।
जें पावे तें निवांता । साहोनि जावें ॥ २२८ ॥
ऐसियां मनें होआवें । तरी दोषु न घडे स्वभावें ।
म्हणौनि आतां झुंजावें । निभ्रांत तुवां ॥ २२९ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां श्रृणु । बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९॥

हे सांख्यस्थिति मुकुळित । सांगितली तुज येथ । आतां बुद्धियोगु निश्चित । अवधारीं पां ॥ २३० ॥ जया बुद्धियुक्ता । जाहलिया पार्था। कर्मबंधु सर्वथा । बाधूं न पवे ॥ २३१ ॥ जैसें वज्रकवच लेइजे । मग शस्त्रांचा वर्षावो साहिजे । परी जैतेसीं उरिजे । अचुंबित ॥ २३२ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४०॥

तैसें ऐहिक तरी न नशे । आणि मोक्षु तो उरला असे ।
जेथ पूर्वानुक्रमु दिसे । चोखाळत ॥ २३३ ॥
कर्माधारें राहाटिजे । परी कर्मफळ न निरीक्षिजे ।
जैसा मंत्रज्ञ न बंधिजे । भूतबाधा ॥ २३४ ॥
तियापरी जे सुबुद्धि । आपुलालिया निरविध ।
हा असतांचि उपाधि । आकळूं न सके ॥ २३५ ॥
जेथ न संचरे पुण्यपाप । जें सूक्ष्म अति निष्कंप ।
गुणत्रयादि लेप । न लगती जेथ ॥ २३६ ॥
अर्जुना तें पुण्यवशें । जरी अल्पचि हृदयीं बुद्धि प्रकाशे ।
तरी अशेषही नाशे । संसारभय ॥ २३७ ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन । बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१॥

जैसी दीपकळिका धाकुटी । परी बहु तेजातें प्रकटी । तैसी सद्बुद्धी हे थेकुटी । म्हणों नये ॥ २३८ ॥ पार्था बहुतीं परी । हे अपेक्षिजे विचारशूरीं । जे दुर्लभ चराचरीं । सद्वासना ॥ २३९ ॥ आणिकासारिखा बहुवसु । जैसा न जोडे परिसु । कां अमृताचा लेशु । दैवगुणें ॥ २४० ॥
तैसी दुर्लभ जे सद्बुद्धि । जिये परमात्माचि अवधि ।
जैसा गंगेसी उदिध । निरंतर ॥ २४१ ॥
तैसें ईश्वरावाचुंनी कांहीं । जिये आणीक लाणी नाहीं ।
ते एकचि बुद्धि पाहीं । अर्जुना जगीं ॥ २४२ ॥
येर ते दुर्मित । जे बहुधा असे विकरित ।
तेथ निरंतर रमती । अविवेकिये ॥ २४३ ॥
म्हणौनि तयां पार्था । स्वर्ग संसार नरकावस्था ।
आत्मसुख सर्वथा । दृष्ट नाहीं ॥ २४४ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः । वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् । क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४॥

वेदाधारं बोलती । केवळ कर्म प्रतिष्ठिती । परी कर्मफळीं आसक्ती । धरूनियां ॥ २४५ ॥ म्हणती संसारीं जन्मिजे । यज्ञादिक कर्म कीजे । मग स्वर्गसुख भोगिजे । मनोहर ॥ २४६ ॥ येथ हें वांचूनि कांहीं । आणिक सर्वथा सुखचि नाहीं । ऐसें अर्जुना बोलती पाहीं । दुर्बुद्धि ते ॥ २४७ ॥

देखें कामना अभिभूत । होऊनि कर्में आचरत । ते केवळ भोगीं चित्त । देऊनियां ॥ २४८ ॥ क्रियाविशेषें बहुतें । न लोपिती विधीतें । निपुण होऊन धर्मातें । अनुष्ठिती ॥ २४९ ॥ परी एकचि कुडें करितीं। जे स्वर्गकाम् मनीं धरिती। यज्ञपुरुषा चुकती । भोक्ता जो ॥ २५० ॥ जैसा कर्पूराचा राशी कीजे । मग अग्नि लाऊन दीजे । कां मिष्टान्नीं संचरविजे । काळकूट ॥ २५१ ॥ दैवें अमृतकुंभ जोडला । तो पायें हाणोनि उलंडिला । तैसा नासिती धर्मु निपजला । हेतुकपणें ॥ २५२ ॥ सायासें पुण्य अर्जिजे । मग संसारु कां अपेक्षिजे परी नेणती ते काय कीजे । अप्राप्य देखें ॥ २५३ ॥ जैसी रांधवणी रससोय निकी । करूनियां मोलें विकी । तैसा भोगासाठीं अविवेकी । धाडिती धर्मु ॥ २५४ ॥ म्हणोनि हे पार्था । दुर्बुद्धि देख सर्वथा । तया वेदवादरतां । मनीं वसे ॥ २५५ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५॥

तिन्हीं गुणीं आवृत । हे वेद जाणैं निभ्रांत । म्हणौनि उपनिषदादि समस्त । सात्विक तें ॥ २५६ ॥ येर रजतमात्मक । जेथ निरूपिजे कर्मादिक । जे केवळ स्वर्गसूचक । धनुर्धरा ॥ २५७ ॥ म्हणौनि तूं जाण । हे सुखदुःखांसीच कारण । एथ झणें अंतःकरण । रिगों देसी ॥ २५८ ॥ तूं गुणत्रयातें अव्हेरीं । मी माझें हें न करीं । एक आत्मसुख अंतरीं । विसंब झणीं ॥ २५९ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके । तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

जरी वेदें बहुत बोलिलें । विविध भेद सूचिले । तर्ही आपण हित आपुलें । तेंचि घेपें ॥ २६० ॥ जैसा प्रगटिलया गभस्ती । अशेषही मार्ग दिसती । तरी तेतुलेहि काय चालिजती । सांगैं मज ॥ २६१ ॥ कां उदकमय सकळ । ज-हीं जाहले असें महीतळ । तरी आपण घेपें केवळ । आर्तीचिजोगें ॥ २६२ ॥ तैसें ज्ञानीये जे होती । ते वेदार्थातें विवरिती । मग अपेक्षित तें स्वीकारिती । शाश्वत जें ॥ २६३ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

म्हणोनि आइकें पार्था । याचिपरी पाहतां । तुज उचित होय आतां । स्वकर्म हें ॥ २६४ ॥ आम्हीं समस्तही विचारिलें । तंव ऐसेचि हें मना आलें । जें न सांडिजे तुवां आपुलें । विहित कर्म ॥ २६५ ॥ परी कर्मफळीं आस न करावी । आणि कुकर्मीं संगति न व्हावी । हे सित्क्रियाचि आचरावी । हेतूविण ॥ २६६ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा धनंजय । सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८॥

तूं योगयुक्त होऊनी । फळाचा संगु टाकुनी ।

मग अर्जुना चित्त देउनी । करीं कमें ॥ २६७ ॥

परी आदिरलें कर्म दैवें । जरी समाप्तीतें पावे ।

तरी विशेषें तेथ तोषावें । हेंही नको ॥ २६८ ॥

कीं निमित्तें कोणें एकें । तें सिद्धी न वचतां ठाके ।

तरी तेथिंचेनि अपरितोखें । क्षोभावें ना ॥ २६९ ॥

आचरतां सिद्धी गेलें । तरी काजाची कीर आलें ।

परी ठेलियाही सगुण जहालें । ऐसेंचि मानीं ॥ २७० ॥

देखें जेतुलालें कर्म निपजे। तेतुलें आदिपुरुषीं अर्पिजे ।

तरी परिपूर्ण सहजें । जहालें जाणें ॥ २७१ ॥

देखें संतासंतकर्मीं । हें जें सिरसेंपण मनोधर्मीं ।

तेचि योगस्थिति उत्तमीं । प्रशंसिजे ॥ २७२ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय । बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते । तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५०॥ अर्जुना समत्व चित्ताचें । तेंचि सार जाणें योगाचें । जेथ मन आणि बुद्धीचें । ऐक्य आथी ॥ २७३ ॥ तो बुद्धियोग विविरतां । बहुतें पाडें पार्था । दिसे हा अरुता । कर्मभागु ॥ २७४ ॥ परी तेंचि कर्म आचिरजे । तरीच हा योगु पाविजे । जें कर्मशेष सहजें । योगस्थिति ॥ २७५ ॥ मनें करीं अव्हेरु । फलहेतूचा ॥ २७६ ॥ जे बुद्धियोग योजिले । तेचि पारंगत जाहले । इहीं उभयबंधीं सांडिले । पापपुण्यीं ॥ २७७ ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१॥

ते कर्मीं तरी वर्तती । परी कर्मफळा नातळती । आणि यातायाति न लोपती । अर्जुना तयां ॥ २७८ ॥ मग निरामयभिरत । पावती पद अच्युत । ते बुद्धियोगयुक्त । धनुर्धरा ॥ २७९ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति । तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२॥

तूं ऐसा तैं होसी । जैं मोहातें यया सांडिसी । आणि वैराग्य मानसीं । संचरैल ॥ २८० ॥ मग निष्कळंक गहन । उपजेल आत्मज्ञान । तेणें निचाडें होईल मन । अपैसें तुझें ॥ २८१ ॥ तेथ आणिक कांहीं जाणावें । कां मागिलातें स्मरावें । हें अर्जुना आघवें । पारुषेल ॥ २८२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यित निश्चला । समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३॥

इंद्रियांचिया संगति । जिये पसरु होतसे मित । ते स्थिर होईल मागुती । आत्मस्वरूपीं ॥ २८३ ॥ समाधिसुखीं केवळ । जैं बुद्धि होईल निश्चळ । तैं पावसी तूं सकळ । योगस्थिति ॥ २८४ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव । स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४॥

तथ अर्जुन म्हणे देवा । हाचि अभिप्रावो आघवा ।

मी पुसेन आतां सांगावा । कृपानिधी ॥ २८५ ॥

मग अच्युत म्हणे सुखें । जें किरीटी तुज निकें ।

तें पूस पां उन्मेखें । मनाचेनि ॥ २८६ ॥

या बोला पार्थें । म्हणितलें सांग पां श्रीकृष्णातें ।

काय म्हणिपें स्थितप्रज्ञातें । वोळखों केवीं ॥ २८७ ॥

आणि स्थिरबुद्धि जो म्हणिजे । तो कैसिया चिन्हीं जाणिजे ।

जो समाधिसुख भुंजे । अखंडित ॥ २८८ ॥

तो कवणें स्थिती असे । कैसेनि रूपीं विलसे ।

देवा सांगावें हें ऐसें । लक्ष्मीपती ॥ २८९ ॥ तंव परब्रह्म अवतरणु । जो षडगुणाधिकरणु । तो काय तेथ नारायणु । बोलतु असे ॥ २९० ॥

श्रीभगवानुवाच । प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५॥

म्हणे अर्जुना परियेसीं । जो हा अभिलाषु प्रौढ मानसीं । तो अंतराय स्वसुखेंसीं । करीतु असे ॥ २९१ ॥ जो सर्वदा नित्यतृप्तु । अंतःकरण भरितु । परी विषयामाजीं पतितु । जेणें संगें कीजे ॥ २९२ ॥ तो कामु सर्वथा जाये । जयाचें आत्मतोषीं मन राहे । तोचि स्थितप्रज्ञु होये । पुरुष जाणें ॥ २९३ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६॥

नाना दुःखीं प्राप्तीं । जयासी उद्वेगु नाहीं चित्तीं । आणि सुखाचिया आर्ती । अडपैजेना ॥ २९४ ॥ अर्जुना तयाच्या ठायीं । कामक्रोधु सहजें नाहीं । आणि भयातें नेणें कहीं । परिपूर्णु तो ॥ २९५ ॥ ऐसा जो निरवधि । तो जाण पां स्थिरबुद्धि । जो निरसूनि उपाधि । भेदरहितु ॥ २९६ ॥ यः सर्वत्रानिभस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७॥

जो सर्वत्र सदा सिरसा । पिरपूर्ण चंद्रु कां जैसा । अधमोत्तम प्रकाशा- । मार्जी न म्हणे ॥ २९७ ॥ ऐसी अनवच्छिन्न समता । भूतमात्रीं सदयता । आणि पालटु नाहीं चित्ता । कवणें वेळे ॥ २९८ ॥ गोमटें कांहीं पावे । तरी संतोषें तेणें नाभिभवे । जो वोखटेनि नागवे । विषादासी ॥ २९९ ॥ ऐसा हरिखशोकरहितु । जो आत्मबोधभिरतु । तो जाण पां प्रज्ञायुक्तु । धनुर्धरा ॥ ३०० ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः । इंद्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८॥

कां कूर्म जियापरी । उवाइला अवेव पसरी । ना तरी इच्छावशें आवरी । आपुले आपण ॥ ३०१ ॥ तैसीं इंद्रियें आपैतीं होती । जयाचें म्हणितलें करिती । तयाची प्रज्ञा जाण स्थिति । पातली असे ॥ ३०२ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९॥

अर्जुना आणिकही एक । सांगेन ऐकें कवितक । या विषयांतें साधक । त्यजिती नियमें ॥ ३०३ ॥ श्रेत्रादि इंद्रियें आविरती । परि रसने नियमु न करिती । ते सहस्त्रधा कवळिजती । विषयीं इहीं ॥ ३०४ ॥
जैसी वरिवरि पालवी खुडिजे । आणि मुळीं उदक घालिजे ।
तरी कैसेनि नाशु निपजे । तया वृक्षा ॥ ३०५ ॥
तो उदकाचेनि बळें अधिकें । जैसा आडवेनि आंगें फांके ।
तैसा मानसीं विषो पोखे । रसनाद्वारें ॥ ३०६ ॥
येरां इंद्रियां विषय तुटे । तैसा नियमूं न ये रस हटें ।
जे जीवन हें न घटे । येणेंविण ॥ ३०७ ॥
मग अर्जुना स्वभावें । ऐसियाही नियमातें पावे ।
जैं परब्रह्म अनुभवें । होऊनि जाइजे ॥ ३०८ ॥
तैं शरीरभाव नासती । इंद्रियें विषय विसरती ।
जैं सोहंभाव प्रतीति । प्रगट होय ॥ ३०९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६०॥

ये-हवीं तरी अर्जुना । हं आया नये साधना । जे राहटताती जतना । निरंतर ॥ ३१० ॥ जयातें अभ्यासाची घरटी । यमनियमांची ताटी । जे मनातें सदा मुठी । धरूनि आहाती ॥ ३११ ॥ तेही किजती कासाविसी । या इंद्रियांची प्रौढी ऐसी । जैसी मंत्रज्ञातें विवसी । भुलवी कां ॥ ३१२ ॥ देखैं विषय हे तैसे । पावती ऋद्धिसिद्धिचेनि मिषें । मग आकळिती स्पर्शें । इंद्रियांचेनि ॥ ३१३ ॥ तिये संधीं मन जाये । मग अभ्यासीं ठोठावलें ठाये । ऐसें बळकटपण आहे । इंद्रियांचें ॥ ३१४ ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः । वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१॥

म्हणौन आइकें पार्था । यांतें निर्दळी जो सर्वथा ।
सर्व विषयीं आस्था । सांडूनियां ॥ ३१५ ॥
तोचि तूं जाण । योगनिष्ठेसी कारण ।
जयाचे विषयसुखें अंत:करण । झकवेना ॥ ३१६ ॥
जो आत्मबोधयुक्तु । होऊनि असे सततु ।
जो मातें हृदयाआंतु । विसंबेना ॥ ३१७ ॥
ये-हवीं बाह्य विषय तरी नाहीं । परी मानसीं होईल जरी कांहीं । तरी साद्यंतुचि पाहीं । संसारु असे ॥ ३१८ ॥
जैसा कां विषाचा लेशु । घेतिलयां होय बहुवसु ।
मग निभ्रांत करी नाशु । जीवितासी ॥ ३१९ ॥
तैसी विषयाची शंका । मनीं वसती देखा ।
घातु करी अशेखा । विवेकजाता ॥ ३२० ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३॥ जरी हृदयीं विषय स्मरती । तरी निसंगाही आपजे संगती । संगें प्रगटे मूर्ति । अभिलाषाची ॥ ३२१ ॥ जेथ कामु उपजला । तेथ क्रोधु आधींचि आला । क्रोधीं असे ठेविला । संमोह जाणें ॥ ३२२ ॥ संमोहा जालिया व्यक्ति । तरी नाशु पावे स्मृति । चडवातें ज्योति । आहत जैसी ॥ ३२३ ॥ कां अस्तमानीं निशी । जैसी सूर्य तेजातें ग्रासी । तैसी दशा स्मृतिभ्रंशीं । प्राणियांसी ॥ ३२४ ॥ मग अज्ञानांध केवळ । तेणें आल्पविजे सकळ । तेथ बुद्धि होय व्याकुळ । हृदयामाजीं ॥ ३२५ ॥ जैसें जात्यंधा पळणीं पावे । मग ते काकुळती सैरा धांवे । तैसें बुद्धीसि होती भंवे । धनुर्धरा ॥ ३२६ ॥ ऐसा स्मृतिभ्रंशु घडे । मग सर्वथा बुद्धि अवघडे । तेथ समूळ हें उपडे । ज्ञानजात ॥ ३२७ ॥ चैतन्यांच्या भ्रंशीं । शरीरा दशा जैशी । तैसें पुरुषा बुद्धिनाशीं । होय देखें ॥ ३२८ ॥ म्हणौनि आइकें अर्जुना । जैसा विस्फुलिंग लागे इंधना । मग तो प्रौढ जालिया त्रिभुवना । पुरों शके ॥ ३२९ ॥ तैसें विषयांचें ध्यान । जरी विपायें वाहे मन । तरी येसणें हें पतन । गिंवसित पावे ॥ ३३० ॥ रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियेश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४॥

म्हणौनि विषय हे आघवे । सर्वथा मनौनि सांडावे । मग रागद्वेष स्वभावें । नाशतील ॥ ३३१ ॥ पार्था आणिकही एक । जरी नाशले रागद्वेष । तरी इंद्रियां विषयीं बाधक । रमतां नाहीं ॥ ३३२ ॥ जैसा सूर्य आकाशगतु । रिशमकरें जगातें स्पर्शतु । तरी संगदोषें काय लिंपतु । तेथिचेनि ॥ ३३३ ॥ तैसा इंद्रियार्थीं उदासीन । आत्मरसेंचि निर्भिन्न । जो कामक्रोधविहीन । होऊनि असे ॥ ३३४ ॥ तरी विषयां तयां कांहीं । आपणपेंवांचूनि नाहीं । मग विषय कवण कायी । बाधितील कवणा ॥ ३३५ ॥ जरी उदकीं उदक बुडिजे । कां अग्नि आगी पोळिजे । तरी विषयसंगे आप्लविजे । परिपूर्ण तो ॥ ३३६ ॥ ऐसा आपणचि केवळु । होऊनि असे निखळु । तयाचि प्रज्ञा अचळु । निभ्रांत मानीं ॥ ३३७ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५॥

देखें अखंडित प्रसन्नता । आथी जेथ चित्ता । तेथ रिगणें नाहीं समस्तां । संसारदुःखां ॥ ३३८ ॥ जैसा अमृताचा निर्झरु । प्रसवे जयाचा जठरु । तया क्षुधेतृषेचा अडदरु । कहींचि नाहीं ॥ ३३९ ॥ तैसें हृदय प्रसन्न होये । तरी दुःख कैचें कें आहे । तेथ आपैसी बुद्धि राहे । परमात्मरूपीं ॥ ३४० ॥ जैसा निर्वातीचा दीपु । सर्वथा नेणें कंपु । तैसा स्थिरबुद्धि स्वस्वरूपु । योगयुक्तु ॥ ३४१ ॥

(\$><\$><\$><\$><\$><\$>

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शांतिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६॥

ये युक्तीची कडसणी । नाहीं जयाच्या अंतःकरणीं । तो आकळिला जाण गुणीं । विषयादिकीं ॥ ३४२ ॥ तया स्थिरबुद्धि पार्था । कहीं नाहीं सर्वथा । आणि स्थैर्याची आस्था । तेही नुपजे ॥ ३४३ ॥ निश्चळत्वाची भावना । जरी नव्हेचि देखैं मना । तरी शांति केवीं अर्जुना । आपु होय ॥ ३४४ ॥ जेथ शांतीचा जिव्हाळा नाहीं । तेथ सुख विसरोनि न रिगे कहीं । जैसा पापियाच्या ठायीं । मोक्षु न वसे ॥ ३४५ ॥ देखैं अग्निमाजीं घापती । तियें बीजें जरी विरूढती । तरी अशांता सुखप्राप्ती । घडों शके ॥ ३४६ ॥ म्हणौनि अयुक्तपण मनाचें । तेंचि सर्वस्व दुःखाचें । या कारणें इंद्रियांचें । दमन निकें ॥ ३४७ ॥

> इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाविमवाम्भिस ॥ ६७॥

इंद्रियें जें जें म्हणती । तें तेंचि जे पुरुष करिती । ते तरलेचि न तरती । विषयसिंधु ॥ ३४८ ॥ जैसी नाव थडिये ठाकितां । जरी वरपडी होय दुर्वाता । तरी चुकलाही मागौता । अपावो पावे ॥ ३४९ ॥ तैसीं प्राप्तेंही पुरुषें । इंद्रियें लाळिलीं जरी कौतुकें । तरी आक्रमिला जाण दुःखें । संसारिकें ॥ ३५० ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः । इंद्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८॥

म्हणौनि आपुलीं आपणपेया । जरी इंद्रियें येती आया । तरी अधिक कांहीं धनंजया । सार्थक असे ॥ ३५१ ॥ देखें कूर्म जियापरी । उवाइला अवेव पसरी । ना तरी इच्छावशें आवरी । आपणपेंचि ॥ ३५२ ॥ तैसीं इंद्रियें आपैतीं होती । जयाचें म्हणितलें करिती । तयाची प्रज्ञा जाण स्थिती । पातली असे ॥ ३५३ ॥ आतां आणिक एक गहन । पूर्णाचें चिन्ह । अर्जुना तुज सांगैन । परिस पां ॥ ३५४ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९॥

देखें भूतजात निदेलें । तेथेंचि जया पाहलें । आणि जीव जेथ चेइलें । तेथ निद्रितु जो ॥ ३५५ ॥ तोचि तो निरुपाधि । अर्जुना तो स्थिरबुद्धि । तोचि जाणें निरवधि । मुनीश्वर ॥ ३५६ ॥ आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् । तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७०॥

पार्था आणीकही परी । तो जाणों येईल अवधारीं । जैसी अक्षोभता सागरीं । अखंडित ॥ ३५७ ॥ ज-हीं सरितावोघ समस्त । परिपूर्ण होऊनि मिळत । तर्ही अधिक नोहे ईषत् । मर्यादा न संडी ॥ ३५८ ॥ ना तरी ग्रीष्मकाळीं सरिता । शोषुनि जाती समस्ता । परी न्यून नव्हे पार्था । समुद्रु जैसा ॥ ३५९ ॥ तैसा प्राप्तीं ऋद्धिसिद्धीं । तयासि क्षोभु नाहीं बुद्धी । आणि न पवतां न बाधी । अधृति तयातें ॥ ३६० ॥ सांगैं सूर्याच्या घरीं । प्रकाशु काय वातीवेरी । कां न लिवजे तरी अंधारीं । कोंडेल तो ॥ ३६१ ॥ देखें ऋद्धिसिद्धि तयापरी । आली गेली से न करी । तो विगुंतला असे अंतरीं । महासुखीं ॥ ३६२ ॥ जो आपुलेनि नागरपणें । इंद्रभुवनातें पाबळें म्हणे । तो केवीं रंजे पालिवणें । भिल्लांचेनि ॥ ३६३ ॥ जो अमृतासी ठी ठेवी । तो जैसा कांजी न सेवी । तैसा स्वसुखानुभवी । न भोगी ऋद्धि ॥ ३६४ ॥ पार्था नवल हें पाहीं । जेथ स्वर्गसुख लेखनीय नाहीं । तथ ऋद्धिसिद्धी कायी । प्राकृता होती ॥ ३६५ ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्युमांश्चरित निःस्पृहः । निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥ ७१॥

ऐसा आत्मबोधें तोषला । जो परमानंदें पोखला । तोचि स्थिरप्रज्ञु भला । वोळख तूं ॥ ३६६ ॥ तो अहंकारातें दंडुनी । सकळ कामु सांडोनी । विचरे विश्व होऊनी । विश्वामाजीं ॥ ३६७ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्मति । स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छिति ॥ ७२॥

ॐ तत्सिदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगोनाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

हे ब्रह्मस्थिति निःसीम । जे अनुभवितां निष्काम ।
ते पावले परब्रह्म । अनायासें ॥ ३६८ ॥
जे चिद्रूपीं मिळतां । देहांतीचि व्याकुळता ।
आड ठाकों न सके चित्ता । प्राज्ञा जया ॥ ३६९ ॥
तेचि हे स्थिति । स्वमुखें श्रीपति ।
सांगत अर्जुनाप्रति । संजयो म्हणे ॥ ३७० ॥
ऐसें कृष्णवाक्य ऐकिलें । तेथ अर्जुनें मनीं म्हणितलें ।
आतां आमुचियाचि काजा कीर आलें । उपपत्ति इया ॥३७१॥
जें कर्मजात आघवें । एथ निराकारिलें देवें ।
तरी पारुषलें म्यां झुंजावें । म्हणौनियां ॥ ३७२ ॥
ऐसा श्रीअच्युताचिया बोला । चित्तीं धनुर्धरु उवाइला ।

आतां प्रश्नु करील भला । आशंकोनी ॥ ३७३ ॥ तो प्रसंगु असे नागरु । जो सकळ धर्मासी आगरु । कीं विवेकामृतसागरु । प्रांतहीनु ॥ ३७४ ॥ जो आपण सर्वज्ञनाथु । निरूपिता होईल श्रीअनंतु । जानदेवो सांगेल मातु । निवृत्तिदासु ॥ ३७५ ॥

(\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) < (\$) <

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ रामकृष्णहरि ॥
सेवाभावी संतचरणरज
बाळकृष्ण प्रकाश कदम
जय हरि सांस्कृतीक प्रतिष्ठान, सोलापूर

(इतर PDF ग्रंथासाठी संपर्क - ९७६५६५३८०५)